रील से रियल तकः बॉलीवुड फिल्मों में प्रदर्शित विकृत पुरुषत्व (Masculinity) का समाज और लोकतांत्रिक मूल्यों पर प्रभाव

प्राप्तिः 11.02.26
स्वीकृतः 15.03.26

24

प्रीति
शोधार्थी, (राजनीति शास्त्र विभाग)
कु. मायावती महिला स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, बादलपुर (गौ. बु. नगर)
ईमेलः *pritinagar961@gmail.com*

डॉ सीमा देवी
एसोसिएट प्रोफेसर,
राजनीति विज्ञान विभाग
कु. मायावती महिला स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, बादलपुर (गौ. बु. नगर)

सारांश

भारतीय सिनेमा केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं है, बल्कि वह समाज की वैचारिक संरचना, लैंगिक भूमिकाओं और व्यवहारिक मानदंडों को गहराई से प्रभावित करने वाली एक शक्तिशाली सांस्कृतिक संस्था है। हिंदी सिनेमा, विशेषकर बॉलीवुड, दशकों से पुरुषत्व (Masculinity) की कुछ विशिष्ट छवियों को गढ़ता और पुनरुत्पादित करता रहा है। इन छवियों में आक्रामकता, हिंसा, स्त्री पर नियंत्रण, भावनात्मक कठोरता और कानून से ऊपर होने की प्रवृत्ति को 'मर्दानगी' के आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह शोध–पत्र 'विकृत पुरुषत्व' (Distorted / Toxic Masculinity) की अवधारणा के सैद्धांतिक आधारों को स्पष्ट करते हुए यह विश्लेषण करता है कि किस प्रकार बॉलीवुड फिल्मों में प्रस्तुत यह पुरुषत्व रील से निकलकर रियल समाज में लैंगिक असमानता, हिंसा, संबंधों की अस्वस्थता और लोकतांत्रिक मूल्यों के क्षरण का कारण बनता है। अध्ययन में लोकप्रिय फिल्मों, चरित्रों और कथानकों के उदाहरणों के माध्यम से यह दिखाया गया है कि कैसे सिनेमा युवाओं की मानसिक संरचना, सामाजिक व्यवहार और सत्ता–संबंधों को प्रभावित करता है। साथ ही, शोध यह भी रेखांकित करता है कि हाल के वर्षों में कुछ फिल्में स्वस्थ और संवेदनशील पुरुषत्व की वैकल्पिक छवि प्रस्तुत कर रही हैं, जो एक अधिक समानतामूलक और लोकतांत्रिक समाज की दिशा में आशा जगाती हैं।

मुख्य शब्द

विकृत पुरुषत्व, बॉलीवुड, पितृसत्ता, लोकप्रिय संस्कृति, लोकतांत्रिक मूल्य, लैंगिक समानता

https://doi.org/10.31995/shodhmanthan.2026.v17i01.24

भूमिका

भारत में सिनेमा को लंबे समय से 'समाज का दर्पण' कहा जाता रहा है। किंतु आधुनिक दौर में यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि सिनेमा केवल समाज को प्रतिबिंबित नहीं करता, बल्कि समाज की दिशा और दशा को भी गढ़ता है। सिनेमा की व्यापक पहुँच, दृश्य–श्रव्य प्रभाव और भावनात्मक अपील इसे एक अत्यंत प्रभावशाली माध्यम बनाती है। एंटोनियो ग्राम्शी की सांस्कृतिक वर्चस्व (Cultural Hegemony) की अवधारणा के अनुसार, प्रभुत्वशाली वर्ग अपनी विचारधाराओं को सांस्कृतिक माध्यमों के जरिये 'सामान्य' और 'स्वाभाविक' बना देता है। इसी संदर्भ में बॉलीवुड फिल्मों के माध्यम से प्रस्तुत पुरुषत्व की छवियाँ समाज में प्रभुत्व, नियंत्रण और हिंसा को वैधता प्रदान करती रही हैं।

भारतीय समाज ऐतिहासिक रूप से पितृसत्तात्मक रहा है, जहाँ शक्ति और निर्णय–निर्माण के केंद्र में पुरुष रहा है। सिनेमा इस पितृसत्तात्मक संरचना का न केवल प्रतिबिंब है, बल्कि उसका सशक्त वाहक भी है। 1970 के दशक के 'एंग्री यंग मैन' से लेकर समकालीन 'हाइपर–मस्क्युलिन' नायकों तक, पुरुष पात्रों को अक्सर कानून से ऊपर, हिंसक और स्त्री पर अधिकार जताने वाले रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन छवियों का प्रभाव केवल पर्दे तक सीमित नहीं रहता, बल्कि यह युवाओं के व्यवहार, रिश्तों और सत्ता–बोध को भी आकार देता है।

यह शोध–पत्र इसी पृष्ठभूमि में यह प्रश्न उठाता है कि बॉलीवुड फिल्मों में प्रदर्शित विकृत पुरुषत्व किस प्रकार सामाजिक ताने–बाने और लोकतांत्रिक मूल्यों जैसे समानता, सहमति, कानून का शासन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता को प्रभावित करता है।

स्त्री, सहमति और सत्ता संबंध

बॉलीवुड फिल्मों में स्त्री, सहमति और सत्ता के बीच का संबंध पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना को स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित करता है। अधिकांश मुख्यधारा की फिल्मों में स्त्री पात्रों को पुरुष नायक की कथा–यात्रा का माध्यम भर बना दिया जाता है, जहाँ उनकी पहचान, आकांक्षाएँ और निर्णय–क्षमता पुरुष सत्ता के अधीन दिखाई देती है। इस प्रकार की प्रस्तुति यह संदेश देती है कि सामाजिक और निजी जीवन में सत्ता का केंद्र स्वाभाविक रूप से पुरुष के पास होना चाहिए, जबकि स्त्री की भूमिका आज्ञाकारिता और समर्पण तक सीमित है।

सहमति की अवधारणा, जो आधुनिक लोकतांत्रिक और संवैधानिक मूल्यों का एक मूलभूत तत्व है, सिनेमा में बार–बार विकृत रूप में प्रस्तुत की जाती है। अनेक फिल्मों में स्त्री की 'ना' को अस्थायी प्रतिरोध या भावनात्मक भ्रम के रूप में दिखाया जाता है, जिसे पुरुष नायक अपने प्रयासों, दबाव या हिंसा के माध्यम से 'हाँ' में बदल देता है। इस प्रकार सहमति को एक स्वतंत्र और स्पष्ट निर्णय के बजाय पुरुष के धैर्य, शक्ति या अधिकार की विजय के रूप में चित्रित किया जाता है। इससे वास्तविक समाज में भी यह धारणा मजबूत होती है कि स्त्री की असहमति निर्णायक नहीं है और उसे बदला जा सकता है।

स्त्री और पुरुष के बीच सत्ता संबंध केवल व्यक्तिगत रिश्तों तक सीमित नहीं रहते, बल्कि वे सामाजिक संरचना का हिस्सा बन जाते हैं। फिल्मों में जब पुरुष पात्र स्त्री के पहनावे, मित्रों, पेशे और जीवन–निर्णयों पर नियंत्रण करता हुआ दिखाया जाता है, तो यह नियंत्रण प्रेम, सुरक्षा या परवाह के रूप में वैध ठहरा दिया जाता है। इस प्रकार सत्ता का दुरुपयोग भावनात्मक भाषा में छिपा दिया

जाता है, जिससे उसका विरोध कठिन हो जाता है। परिणामस्वरूप, स्त्रियाँ स्वयं भी कई बार इस नियंत्रण को सामान्य या स्वाभाविक मानने लगती हैं।

इसके अतिरिक्त, फिल्मों में स्त्री की एजेंसी का अभाव लोकतांत्रिक समानता के सिद्धांत को कमजोर करता है। जब निर्णय–निर्माण की प्रक्रिया में स्त्री की आवाज अनुपस्थित रहती है, तो यह समान नागरिकता की अवधारणा को चुनौती देता है। सिनेमा में सहमति और सत्ता के इस असंतुलन का प्रभाव वास्तविक जीवन में लैंगिक हिंसा, संबंधों में असमानता और महिलाओं के आत्मनिर्णय के अधिकार पर पड़ता है। इसलिए स्त्री, सहमति और सत्ता संबंधों का यह विश्लेषण केवल फिल्मी विमर्श नहीं, बल्कि सामाजिक और लोकतांत्रिक चेतना के पुनर्निर्माण की आवश्यकता को रेखांकित करता है।

रील से रियलः विकृत पुरुषत्व का सामाजिक और लोकतांत्रिक प्रभाव

रील से रियल की यात्रा केवल एक रूपक नहीं है, बल्कि यह उस वास्तविक प्रक्रिया को दर्शाती है जिसके माध्यम से सिनेमा में गढ़े गए विचार, व्यवहार और मूल्य समाज के दैनिक जीवन का हिस्सा बन जाते हैं। बॉलीवुड फिल्मों में प्रदर्शित विकृत पुरुषत्व इसी प्रक्रिया का एक सशक्त उदाहरण है। जब परदे पर हिंसा, आक्रामकता, स्त्री पर नियंत्रण और कानून से ऊपर खड़े पुरुष को नायकत्व प्रदान किया जाता है, तो यह केवल एक काल्पनिक कथा नहीं रह जाती, बल्कि सामाजिक व्यवहार के लिए एक वैध मॉडल में बदल जाती है। सिनेमा की व्यापक पहुँच और भावनात्मक प्रभावशीलता इसे सामाजिक चेतना के निर्माण का एक महत्वपूर्ण माध्यम बना देती है।

सबसे पहले, विकृत पुरुषत्व का प्रभाव लैंगिक संबंधों पर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। फिल्मों में बार–बार यह संदेश दिया जाता है कि पुरुष का अधिकार स्त्री के शरीर, भावनाओं और निर्णयों तक फैला हुआ है। 'ना' को 'हाँ' में बदलने का प्रयास, पीछा करना, जबरदस्ती प्रेम थोपना और हिंसा को जुनून या सच्चे प्यार का प्रमाण बताना, इन सभी प्रस्तुतियों का समाज में गहरा प्रभाव पड़ता है। परिणामस्वरूप, वास्तविक जीवन में भी कई युवा पुरुष इन व्यवहारों को सामान्य और स्वीकार्य मानने लगते हैं। इससे महिलाओं के लिए सार्वजनिक और निजी दोनों ही स्थान असुरक्षित बनते हैं तथा सहमति जैसी लोकतांत्रिक अवधारणा कमजोर पड़ती है।

रील से रियल का यह प्रभाव केवल स्त्रियों तक सीमित नहीं रहता, बल्कि पुरुषों की मानसिक संरचना को भी प्रभावित करता है। फिल्मों में आदर्श पुरुष वही दिखाया जाता है जो भावनात्मक रूप से कठोर हो, दर्द सह सके, रोए नहीं और हर समस्या का समाधान हिंसा या प्रभुत्व के माध्यम से करे। इस प्रकार की छवि पुरुषों पर एक अदृश्य दबाव डालती है कि वे अपनी भावनाओं को दबाएँ और संवेदनशीलता को कमजोरी समझें। वास्तविक जीवन में यह दबाव मानसिक स्वास्थ्य समस्याओं, अवसाद, अकेलेपन और नशाखोरी के रूप में सामने आता है। जब पुरुष अपने दर्द को व्यक्त नहीं कर पाते, तो वही दबा हुआ आक्रोश समाज में हिंसक व्यवहार के रूप में प्रकट होता है।

विकृत पुरुषत्व का सामाजिक प्रभाव परिवार की संरचना में भी देखा जा सकता है। फिल्मों में घरेलू हिंसा, अपमान और नियंत्रण को सामान्य पारिवारिक व्यवहार के रूप में दिखाया जाता है। 'थप्पड़' जैसी फिल्मों से पहले तक, पति द्वारा पत्नी पर हाथ उठाना अक्सर एक 'क्षणिक गुस्सा' या

https://doi.org/10.31995/shodhmanthan.2026.v17i01.24

'परिस्थितिजन्य प्रतिक्रिया' के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है। इस प्रकार के चित्रण समाज में यह धारणा मजबूत करते हैं कि परिवार के भीतर होने वाली हिंसा एक निजी मामला है, न कि एक गंभीर सामाजिक अपराध। इसका सीधा असर महिलाओं की स्थिति और उनके आत्मसम्मान पर पड़ता है। रील से रियल का यह प्रभाव युवाओं में और भी गहरा होता है। युवा दर्शक फिल्मी नायकों को आदर्श मानते हैं और उनके संवाद, पहनावे, व्यवहार और संबंधों की नकल करते हैं। जब 'कबीर सिंह' या 'एनिमल' जैसे पात्रों को करिश्माई और आकर्षक दिखाया जाता है, तो उनके आत्म–विनाशकारी और हिंसक व्यवहार भी रोमांटिक बन जाते हैं। कॉलेज और विश्वविद्यालय परिसरों में प्रेम के नाम पर नियंत्रण, ईष्या और आक्रामकता को सामान्य समझा जाने लगता है। यह प्रवृत्ति न केवल व्यक्तिगत संबंधों को अस्वस्थ बनाती है, बल्कि एक ऐसे युवा वर्ग का निर्माण करती है जो संवाद और सहमति के बजाय शक्ति और वर्चस्व में विश्वास करता है।

लोकतांत्रिक मूल्यों पर विकृत पुरुषत्व का प्रभाव भी गहन और चिंताजनक है। लोकतंत्र कानून के शासन, समानता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर आधारित होता है। किंतु फिल्मों में जब नायक को कानून से ऊपर दिखाया जाता है और उसकी हिंसा को न्याय का रूप दिया जाता है, तो यह संस्थाओं के प्रति अविश्वास को बढ़ावा देता है। 'मसीहा पुरुष' की अवधारणा यह संदेश देती है कि व्यवस्था से ऊपर एक शक्तिशाली पुरुष ही समाज को बचा सकता है। वास्तविक जीवन में यह सोच भीड़–न्याय, कानून हाथ में लेने और संस्थागत प्रक्रियाओं को नकारने की प्रवृत्ति को जन्म देती है, जो लोकतंत्र के लिए घातक है।

इसके अतिरिक्त, विकृत पुरुषत्व जाति, वर्ग और सत्ता के अन्य रूपों के साथ मिलकर सामाजिक असमानताओं को और गहरा करता है। फिल्मों में अक्सर शक्तिशाली, प्रभुत्वशाली पुरुष उच्च वर्ग या प्रभावशाली सामाजिक स्थिति से जुड़ा होता है, जबकि कमजोर और संवेदनशील पुरुष पात्रों को हास्य या तिरस्कार का पात्र बना दिया जाता है। इससे समाज में यह धारणा मजबूत होती है कि शक्ति और वर्चस्व ही सम्मान का आधार हैं। यह सोच लोकतांत्रिक समानता के सिद्धांत के विपरीत है।

रील से रियल की इस पूरी प्रक्रिया में मीडिया उपभोक्ता की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। लगातार एक जैसे संदेश देखने से दर्शकों की वास्तविकता–बोध की समझ बदल जाती है। हिंसा और नियंत्रण जब बार–बार नायकत्व से जुड़ते हैं, तो वे सामान्य और स्वाभाविक प्रतीत होने लगते हैं। यही कारण है कि फिल्मों में दिखाई गई विकृत पुरुषत्व की छवियाँ समाज में प्रतिरोध के बजाय स्वीकृति पाती हैं।

अंततः यह स्पष्ट होता है कि बॉलीवुड फिल्मों में प्रदर्शित विकृत पुरुषत्व केवल सांस्कृतिक समस्या नहीं, बल्कि एक गहरी सामाजिक और लोकतांत्रिक चुनौती है। रील पर गढ़ी गई मर्दानगी जब रियल जीवन में व्यवहार और सोच का आधार बन जाती है, तो वह समानता, सहमति और न्याय जैसे मूल्यों को कमजोर करती है। इसलिए रील से रियल की इस यात्रा को समझना और उस पर आलोचनात्मक विमर्श करना एक अधिक न्यायपूर्ण और संवेदनशील समाज के निर्माण के लिए अनिवार्य है।

लोकतांत्रिक मूल्यों पर विकृत पुरुषत्व का प्रभाव

लोकतंत्र समानता, स्वतंत्रता, सहमति, कानून के शासन और मानवीय गरिमा जैसे मूल्यों पर आधारित होता है। किसी भी लोकतांत्रिक समाज में सत्ता का केंद्रीकरण अस्वीकार्य माना जाता है

तथा संस्थाओं, नियमों और प्रक्रियाओं को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। किंतु बॉलीवुड फिल्मों में प्रदर्शित विकृत पुरुषत्व इन मूलभूत लोकतांत्रिक सिद्धांतों को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में चुनौती देता है। जब सिनेमा बार–बार एक ऐसे पुरुष नायक को महिमामंडित करता है जो कानून से ऊपर है, हिंसा के माध्यम से न्याय करता है और अपने व्यक्तिगत निर्णयों को सामाजिक नैतिकता से ऊपर रखता है, तो यह लोकतांत्रिक चेतना को कमजोर करता है।

फिल्मों में प्रस्तुत 'मसीहा पुरुष' की अवधारणा लोकतांत्रिक मूल्यों के लिए विशेष रूप से खतरनाक है। इस अवधारणा के तहत यह दिखाया जाता है कि व्यवस्था असफल है और केवल एक शक्तिशाली, आक्रामक और सर्वज्ञ पुरुष ही समाज को बचा सकता है। इस प्रकार का चित्रण संस्थागत लोकतंत्र पर अविश्वास को जन्म देता है और यह संदेश देता है कि कानून, न्यायपालिका और प्रशासनिक प्रक्रियाएँ अप्रभावी हैं। वास्तविक जीवन में यह सोच भीड़–न्याय, कानून हाथ में लेने और व्यक्तिगत प्रतिशोध को वैध ठहराने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देती है, जो लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था के लिए गंभीर चुनौती है।

विकृत पुरुषत्व का प्रभाव लोकतांत्रिक समानता के सिद्धांत पर भी पड़ता है। फिल्मों में स्त्रियों को अक्सर पुरुष नायक के अधीन, उसकी इच्छाओं और निर्णयों पर निर्भर दिखाया जाता है। इससे समान नागरिकता और लैंगिक समानता की लोकतांत्रिक अवधारणा कमजोर होती है। जब सहमति को गौण और नियंत्रण को प्रेम या अधिकार के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तो यह लोकतंत्र के उस मूल तत्व को नकारता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने शरीर और जीवन पर निर्णय लेने का अधिकार प्राप्त है।

इसके अतिरिक्त, लोकतंत्र संवाद और असहमति की संस्कृति पर आधारित होता है, जबकि विकृत पुरुषत्व संवाद के बजाय आक्रामकता और हिंसा को प्राथमिकता देता है। फिल्मों में पुरुष नायक अपनी बात मनवाने के लिए संवाद नहीं, बल्कि शक्ति और डर का प्रयोग करता है। यह प्रवृत्ति समाज में भी असहमति को दबाने और बहस के बजाय बल प्रयोग को स्वीकार्य बनाने की मानसिकता को जन्म देती है। परिणामस्वरूप, लोकतांत्रिक सार्वजनिक क्षेत्र संकुचित होता है और विविध विचारों के लिए स्थान कम होता जाता है।

विकृत पुरुषत्व लोकतांत्रिक मूल्यों को इस अर्थ में भी प्रभावित करता है कि यह नागरिकों को सक्रिय और जिम्मेदार सहभागिता के बजाय एक करिश्माई व्यक्ति पर निर्भर रहने की आदत डालता है। लोकतंत्र में नागरिकों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है, किंतु सिनेमा में प्रस्तुत नायक–केंद्रित समाधान नागरिक चेतना को कमजोर करते हैं। इससे लोकतंत्र एक सहभागी व्यवस्था के बजाय व्यक्ति–पूजा की ओर झुकने लगता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बॉलीवुड फिल्मों में प्रदर्शित विकृत पुरुषत्व केवल सामाजिक या सांस्कृतिक समस्या नहीं है, बल्कि यह लोकतांत्रिक मूल्यों के लिए एक गहरी वैचारिक चुनौती है। जब रील पर सत्ता, हिंसा और नियंत्रण को आदर्श बना दिया जाता है, तो रियल समाज में समानता, कानून का शासन और सहमति जैसे मूल्य धीरे–धीरे कमजोर पड़ने लगते हैं। इसलिए लोकतांत्रिक समाज के संरक्षण के लिए सिनेमा में प्रस्तुत पुरुषत्व की आलोचनात्मक समीक्षा अत्यंत आवश्यक है।

https://doi.org/10.31995/shodhmanthan.2026.v17i01.24

बदलता सिनेमा और सकारात्मक पहल

लंबे समय तक हिंदी सिनेमा में विकृत पुरुषत्व की प्रधानता के बावजूद, हाल के वर्षों में बॉलीवुड में कुछ सकारात्मक और प्रगतिशील परिवर्तन स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगे हैं। यह बदलाव इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि सिनेमा केवल समाज की पितृसत्तात्मक संरचनाओं को दोहराने वाला माध्यम नहीं है, बल्कि वह आत्मालोचन और सामाजिक सुधार का मंच भी बन सकता है। बदलते सामाजिक–सांस्कृतिक संदर्भ, स्त्रीवादी विमर्श, संवैधानिक मूल्यों की बढ़ती समझ और दर्शकों की आलोचनात्मक चेतना ने फिल्मकारों को पारंपरिक पुरुषत्व की छवियों पर पुनर्विचार करने के लिए प्रेरित किया है।

समकालीन फिल्मों में अब ऐसे पुरुष पात्रों को स्थान मिलने लगा है जो हिंसा, आक्रामकता और नियंत्रण के बजाय संवेदनशीलता, आत्मचिंतन और समानता को महत्व देते हैं। उदाहरणस्वरूप, पिंक (2016) जैसी फिल्म ने सहमति को एक स्पष्ट और अनिवार्य लोकतांत्रिक मूल्य के रूप में स्थापित किया, जहाँ पुरुष पात्र स्त्री की स्वायत्तता और निर्णय–क्षमता का सम्मान करते दिखाई देते हैं। इसी प्रकार थप्पड़ (2020) ने घरेलू हिंसा के सामान्यीकरण को चुनौती देते हुए यह स्पष्ट किया कि किसी भी प्रकार की हिंसा, चाहे वह कितनी ही 'सामान्य' क्यों न दिखाई जाए, अस्वीकार्य है। फिल्म दंगल (2016) में पुरुषत्व की एक अपेक्षाकृत सकारात्मक और सहायक छवि उभरती है, जहाँ पिता का किरदार पितृसत्तात्मक नियंत्रण के बजाय अपनी बेटियों की क्षमताओं को पहचानने और उन्हें सशक्त बनाने की भूमिका निभाता है। वहीं लापता लेडीज (2024) जैसी फिल्में स्त्री शिक्षा, आत्मनिर्भरता और पहचान के प्रश्नों को केंद्र में रखकर सामाजिक संवेदनशीलता को बढ़ावा देती हैं।

ये सकारात्मक पहल यह दर्शाती हैं कि हिंदी सिनेमा में स्वस्थ और लोकतांत्रिक पुरुषत्व की वैकल्पिक कल्पना संभव है। यद्यपि यह प्रवृत्ति अभी सीमित है, फिर भी यह संकेत देती है कि यदि सिनेमा इस दिशा में निरंतर आगे बढ़े, तो वह एक अधिक समानतामूलक, संवेदनशील और लोकतांत्रिक समाज के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

निष्कर्ष

यह शोध–पत्र इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि बॉलीवुड फिल्मों में प्रदर्शित विकृत पुरुषत्व केवल एक सिनेमाई प्रवृत्ति नहीं है, बल्कि यह भारतीय समाज की पितृसत्तात्मक संरचनाओं, सत्ता–संबंधों और लोकतांत्रिक चेतना को गहराई से प्रभावित करने वाला सांस्कृतिक तंत्र है। जब सिनेमा बार–बार आक्रामकता, हिंसा, स्त्री पर नियंत्रण और भावनात्मक कठोरता को 'मर्दानगी' का पर्याय बनाकर प्रस्तुत करता है, तो यह रील से निकलकर रियल जीवन में सामाजिक व्यवहार और मूल्यों का हिस्सा बन जाता है। परिणामस्वरूप, लैंगिक असमानता, अस्वस्थ संबंधों और हिंसा के सामान्यीकरण को सामाजिक स्वीकृति मिलने लगती है।

अतः यह शोध इस निष्कर्ष पर बल देता है कि यदि बॉलीवुड सिनेमा संवेदनशील, समानतामूलक और लोकतांत्रिक मूल्यों को केंद्र में रखकर पुरुषत्व की पुनर्कल्पना करे, तो वह न केवल सामाजिक विकृतियों को चुनौती दे सकता है, बल्कि एक अधिक न्यायपूर्ण और मानवीय समाज के निर्माण में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

संदर्भ

1. कॉनेल, आर. डब्ल्यू. (1995). मैस्क्युलिनिटीज (पुरुषत्व). यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस.
2. बटलर, जूडिथ. (2006). जेंडर ट्रबलः नारीवाद और पहचान का उपसंहार. रूटलेज.
3. ग्राम्शी, एंतोनियो. (1971). प्रिजन नोटबुक्स से चयन. इंटरनेशनल पब्लिशर्स.
4. ड्वायर, रैचेल. (2014). बॉलीवुड्स इंडियाः समकालीन भारत के मार्गदर्शक के रूप में हिंदी सिनेमा. रिएक्शन बुक्स.
5. गोकुलसिंह, के. एम., एवं डिसनायके, विमल. (2004). भारतीय लोकप्रिय सिनेमाः सांस्कृतिक परिवर्तन की कथा. ट्रेंटहम बुक्स.
6. चक्रवर्ती, सुमिता. (1993). भारतीय लोकप्रिय सिनेमा में राष्ट्रीय पहचान. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
7. मल्वी, लॉरा. (1975). दृश्य आनंद और नैरेटिव सिनेमा. स्क्रीन, 16(3), 6–18.
8. कुपर्स, टी. ए. (2005). टॉक्सिक पुरुषत्व और मानसिक स्वास्थ्य उपचार में बाधाएँ. जर्नल ऑफ क्लिनिकल साइकोलॉजी, 61(6), 713–724.
9. बसी, के., एवं बंडूरा, अल्बर्ट. (1999). जेंडर विकास का सामाजिक संज्ञानात्मक सिद्धांत. साइकोलॉजिकल रिव्यू, 106(4), 676–713.
10. गर्बनर, जॉर्जय ग्रॉस, लैरीय मॉर्गन, माइकलय एवं सिग्नोरिएली, नैन्सी. (1976). टेलीविजन के साथ जीवनः हिंसा प्रोफाइल. जर्नल ऑफ कम्युनिकेशन, 26(2), 172–199.
11. गिल, रोजालिंड. (2007). जेंडर और मीडिया. पॉलिटी प्रेस.
12. मेसर्श्मिट, जेम्स डब्ल्यू. (2018). हेजेमोनिक पुरुषत्वः सूत्रीकरण, पुनर्सूत्रीकरण और विस्तार. रोमन एंड लिटिलफील्ड.
13. सरकार, भास्कर. (2009). राष्ट्र का शोकः विभाजन के बाद भारतीय सिनेमा. ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस.
14. बोस, दीपाली. (2019). जेंडर, हिंसा और लोकप्रिय हिंदी सिनेमा. इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 54(12).
15. सम्राट, एस. (2021). बॉलीवुड का टॉक्सिक पुरुषत्वः लोकप्रिय हिंदी सिनेमा में पुरुष और स्त्री की समस्याग्रस्त प्रस्तुति. इंटरनेशनल जर्नल ऑफ लॉ मैनेजमेंट एंड ह्यूमैनिटीज, 4.
16. मैथ्यू, एस., एवं मधुसूदनन, एम. (2023). विषाक्तता का सामान्यीकरणः समकालीन भारतीय सिनेमा में पुरुषत्व की प्रस्तुति. सात्राची, 40.
17. सेन, अमर्त्य. (1999). विकास के रूप में स्वतंत्रता. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
18. नुस्बाउम, मार्था सी. (2011). क्षमताओं का निर्माणः मानव विकास दृष्टिकोण. हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.
19. मोहंती, चंद्रा तलपड़े. (2003). सीमाओं के बिना नारीवादः उपनिवेशोत्तर सिद्धांत और एकजुटता. ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस.
20. कुमार, सुनील. (2018). भारत में मीडिया, पुरुषत्व और युवा. जर्नल ऑफ जेंडर स्टडीज, 27(4).